

हिन्द स्वराज का वर्णाश्रमी पाठ

विभूति नारायण राय

घर, शहर में कफ़्यू, तबादला, प्रेम की भूत कथा जैसे चर्चित उपन्यासों के रचनाकार विभूति नारायण
। राय अपनी विचारोत्तेजक बौद्धिकता के कारण भी जाने जाते हैं

हिन्द स्वराज का पाठ कई दृष्टियों से हो सकता है पर मुझे लगता है कि उसके एक वर्णाश्रमी पाठ की भी आवश्यकता है। यह दो कारणों से आवश्यक है। गांधी स्वयं को सनातनी कहते थे और जन्मना वर्णव्यवस्था में उनकी आस्था मृत्यु से कुछ दिनों पहले तक के उनके लेखन और वक्तव्यों से झलकती है। दूसरे हिन्द स्वराज के वर्णाश्रमी पाठ का कोई गम्भीर प्रयास नहीं हुआ है। हर बार हिन्द स्वराज को पढ़ते हुए मेरे मन में कुछ शंकाएं रह जाती हैं। मैं यहाँ उन्हीं में से कुछ, रख रहा हूँ। ये शंकाएं मुख्य रूप से भारतीय समाज को समझने में वर्णव्यवस्था को एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में लेने की मेरी जिद से उपजी हैं।

गांधी का पूरा रसास्वादन एक गहरा आस्तिक मन ही कर सकता है। यह कमोबेश ईश्वर जैसी स्थिति है। ईश्वर की शरण में आप संशयात्मा बन कर नहीं जा सकते। वहाँ आप को सारे तर्क वितर्क छोड़ कर ऐसी आस्था के साथ जाना पड़ेगा जिसमें क्या, क्यों, कैसे के लिए स्थान नहीं है। आस्तिकता से लबरेज इस दर्शन में सब कुछ पूर्वनिर्धारित है और हर सत्य अंतिम सत्य है। जीवन और जीवन से परे जो कुछ घट रहा है या जो कुछ नहीं भी घट रहा है पर हमें आश्वस्त कराया जाता है कि घट रहा है वह सब तर्कातीत है। नियंता की निर्मित प्रश्नों से परे है। काफी हद तक गांधी के साथ भी यही स्थिति है। आप उन तक निर्मल चित्त के साथ ही पहुंच सकते हैं। चित्त की यह निर्मलता बिना शर्त समर्पण से उत्पन्न होती है। जिसके पास कोई प्रश्न नहीं है, जो पूरी तरह से आस्था से भरा है और जो आंख मूंद कर वचनामृत पान करने को तत्पर हो उसी को निर्मल चित्त कहा जा सकता है। जरा सा संशय चित्त को कलुषित करता है। उसी आस्तिक भाषा के साथ आप भी गांधी

तद्भव

तक पहुंच सकते हैं।

मैं हिन्द स्वराज को पढ़ते हुए हर बार गड़बड़ा जाता हूं। मेरे लिए उस तर्क पद्धति को स्वीकार करना सम्भव नहीं हो पाता जिसके माध्यम से गांधी अंतिम सत्य का उद्घाटन करते हैं। अंतिम सत्य इस अर्थ में कि, 1909 में तो गांधी के मन में अपनी स्थापनाओं को लेकर कोई संदेह नहीं ही है, दशकों बाद भी जब उन्हें अपनी कृति को संशोधित परिवर्धित करने का अवसर मिला तब भी वे एक विनम्र अहंकार के साथ कहते हैं कि वे पूरे पाठ में सिर्फ एक शब्द परिवर्तित कर पाये। यह शब्द वेश्या था जिसे उन्होंने ब्रितानी पार्लियामेंट के लिए उपयोग किया था और जिसे बदलने के लिए एक महिला अनुयायी के कहने से बड़े अनमनेपन से वे तैयार हुए। मैंने ऊपर जिस आस्तिकता का उल्लेख किया है वही इस तर्क पद्धति की जनक है। ईश्वरीय पुस्तकों में आप कामा, फुलस्टॉप भी नहीं बदल सकते। उनका पाठ या श्रवण वही कर सकता है जो ऊपर उल्लिखित निर्मल चित्त हो। यह बहुत स्वाभाविक है कि अपनी इस आस्तिक तर्क पद्धति से जब गांधी समाज का एक वैकल्पिक रोल मॉडल हमारे सामने रखते हैं; तो इस रोल मॉडल के बारे में वे इतने आश्वस्त हैं कि जहां कहीं उन्हें यह समझ में आ भी जाता है कि उनका सुझाया रास्ता अव्यावहारिक और अस्वीकार्य है वहां भी वे बुझे मन से सिर्फ यह कहते हैं कि *‘रेलों या अस्पतालों का नाश करने का ध्येय (अब) मेरे मन में नहीं है, अगरचे उनका कुदरती नाश हो तो मैं जरूर उसका स्वागत करूंगा।’* (जनवरी 1929)!

गांधी के वैकल्पिक मॉडल को समझने से पहले हमें उस तर्कपद्धति को समझना होगा जिससे इस मॉडल को प्रस्तावित किया गया है और जो इसके पक्ष में विमर्श खड़ा करती है। हिन्द स्वराज संवाद शैली में लिखी गयी है। सम्पादक और पाठक के बीच संवाद हो रहा है, जिसमें पाठक प्रश्न पूछता है और सम्पादक उसकी शंकाओं का समाधान करता है। सम्पादक और पाठक दोनों एक ही हैं। यहां स्थिति यम और नचिकेता के संवाद जैसी है पर, दोनों में एक फर्क भी है। कठोपनिषद् का रचयिता मुनि यम और नचिकेता के संवाद रचता है, उनके लिए एक तर्कपद्धति गढ़ता है और उसी तर्कपद्धति से प्रश्न पूछे जाते हैं तथा उनके समाधान प्रस्तुत किये जाते हैं। इसी तरह का संवाद हिन्द स्वराज में भी है सम्पादक और पाठक के बीच में। अंतर सिर्फ इतना है कि कठोपनिषद् के लेखक के लिए यम और नचिकेता दोनों अवैयक्तिक हैं। उसने दोनों पात्र गढ़े हैं अतः उसके लिए दोनों से समान दूरी बनाये रखना सम्भव है। यह दूरी दार्शनिक संवाद की उस कमी की प्रतिपूर्ति करती है जिसमें संवाद लेखक अपनी स्थापनाओं को सिद्ध करने के लिए प्रश्न और उत्तर इस तरह से रचता है कि किसी सजग व्यक्ति के लिए यह भांपना मुश्किल नहीं होता कि प्रश्न उत्तरों को ध्यान में रख कर पूछे गये हैं। प्रश्न न भी पढ़े जायें तब भी कोई फर्क नहीं पड़ेगा। उत्तर अपने में स्वतंत्र और स्वायत्त हैं। इस तर्कपद्धति की प्रविधि इस प्रकार है कि इसमें पहले एक स्थापना गढ़ी जाती है और फिर उसे प्रस्तुत करने के लिए प्रश्न पूछे जाते हैं। प्रश्न पूछने वाला और उत्तरों का जिज्ञासु एक ही है इसलिए स्वाभाविक है कि जिज्ञासु उत्तरों से आसानी से संतुष्ट हो जाता है और ऐसे प्रतिप्रश्न नहीं पूछता जो उत्तर देने वाले को असहज कर दे।

हिन्द स्वराज पढ़ते समय यह ध्यान रखना होगा कि पाठक और सम्पादक एक ही व्यक्ति हैं। 1909 में गांधी समाज के लिए जिस रोल मॉडल की परिकल्पना 10 दिनों में समुद्री यात्रा के दौरान लिखी गयी इस पुस्तिका में करते हैं उसका खाका इस यात्रा के पहले के कुछ वर्षों में उनके मन में तैयार हुआ था। बार एट लॉ करके लौटे मोहनदास के पास भारत या दक्षिण अफ्रीका में वकालत करने, अकूत धन कमाने और एक उच्च वर्ग का जीवन व्यतीत करने के अपार अवसर थे। उनके जैसे तमाम नौजवान यही कर रहे थे और यही स्वाभाविक भी था। पर वे दूसरों से भिन्न निकले और उन्होंने भारत को समझने की ठानी। परतंत्रताजनित देश की दुर्दशा और दैन्य से उपजी लोगों की दुर्दशा ने उन्हें व्यथित किया और इन सबकी तह में जाने के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया। उन्होंने

तद्भव

विभिन्न स्तरों पर विचार विमर्श किया। इनमें से महत्वपूर्ण विमर्श उन लोगों के साथ था जिन्हें गांधी अराजकतावादी कहते हैं और हिंसा को जायज ठहराने के उनके नजरिये से असहमत हैं। इन विमर्शों के माध्यम से उन्होंने तीन मसलों पर अपनी समझ विकसित करने की कोशिश की। ये थे भारत की गुलामी और दुर्दशा के कारण और मुक्ति के उपाय, आधुनिक सभ्यता का स्वरूप तथा उसका एक वैकल्पिक रोल मॉडल।

यदि कोई पुस्तक 10 दिनों में लिखी जाय, दिन रात लिखी जाय, दाहिना हाथ थक जाने पर बायें हाथ से लिखी जाय और लिखते समय कोई संदर्भ सामग्री उपलब्ध न हो, निश्चित रूप से ऐसी पुस्तक द्वारा प्रतिपादित स्थापनाओं में बाद में संशोधन परिवर्द्धन की गुंजाइश रह जाती है। गांधी इस सम्भावना को पूरी तरह से नकार देते हैं। दशकों बाद भी पुस्तक के पाठ में किसी परिवर्तन से इनकार का मतलब है कि हमें पाठ को उपरोक्त सीमाओं से मुक्त कर पढ़ना होगा।

भारत गुलाम क्यों हुआ? इसका बड़ा सरलीकृत उत्तर गांधी के पास है : *“हिन्दुस्तान अंग्रेजों ने लिया सो बात नहीं है, बल्कि हमने उन्हें दिया है। हिन्दुस्तान में वे अपने बल से नहीं टिके हैं बल्कि हमने उन्हें टिका रखा है।”* इस समझ से किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। यह स्थिति तो एक गुथी की तरह है जो भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त कार्ल मार्क्स और टॉलस्टॉय जैसे विदेशी मनीषियों को भी मथती रही है। आखिर कैसे चंद हजार लोग करोड़ों लोगों को गुलाम बना लेते हैं और एक सौ नब्बे वर्ष उन पर शासन करते रहते हैं? गांधी जी के लिए उत्तर भी बड़ा सहज है— *“अंग्रेज व्यापारियों को हमने बढ़ावा दिया तभी वे अपना पैर फैला सके।”* ‘हिन्दुस्तान कैसे गया?’ नामक छोटे से अध्याय में गांधी जी ने प्रतिपादित किया है कि *“अंग्रेज एक व्यापारिक कौम है, उसने भारत में व्यापार बढ़ाने के लिए नीति अनीति सबका उपयोग किया है और भारतीयों ने अपने स्वार्थ के लिए उनके व्यापारिक प्रयासों में भागीदारी की है। अतः अंग्रेजों ने भारत ले लिया है और वे उसे रखे हुए हैं। उन्होंने तलवार से हिन्दुस्तान लिया ऐसा उनमें से कुछ कहते हैं, और ऐसा भी कहते हैं कि तलवार से उसे रख रहे हैं। यों, दोनों बातें गलत हैं; हम खुद ही उन्हें यहां रहने देते हैं।”*

इस सरलीकृत स्थापना में कहीं भी यह जानने की कोशिश नहीं है कि केवल अंग्रेज ही नहीं, उनके पहले भी तमाम आक्रांता इस देश पर हमला करते रहे और बड़ी आसानी से अपने से कई गुना बड़ी हिन्दुस्तानी राजाओं की फौजों को हराते हुए देश को एक कोने से दूसरे कोने तक रौंदते चले जाते थे। इस सरलीकृत स्थापना में उस मनोवृत्ति के पीछे के कारणों को समझने की कोशिश भी नहीं है जिसके अंतर्गत देश की असंख्य जनसंख्या *‘कोई नृप होय हमें का हानी’* में विश्वास रखते हुए आराम से अपना जीवन व्यतीत करती रहती है और इस बात से उसे कोई मतलब नहीं रहता कि उसका शासक कौन है? गांधी जी जब यह मान कर चल रहे थे कि अंग्रेजों ने भारत लिया नहीं बल्कि हमने उन्हें दिया तब उन्हें भारतीय समाज में अपने समानांतर चल रही सोच की उस धारा के बारे में भी विचार करना चाहिए था जो अंग्रेजों को शोषक साम्राज्यवादी नहीं मुक्तिदाता मानती थी। ज्योतिबा फुले से शुरू होकर आम्बेडकर तक विकसित हुई यह मान्यता गांधी जी की सरलीकृत व्याख्या के एकदम भिन्न है।

हिन्द स्वराज पढ़ते समय मुझे जिस चीज ने सबसे अधिक चमत्कृत किया वह है पूरी पुस्तक में वर्णव्यवस्था का कहीं जिक्र न होना। गांधी जी ने इस पुस्तक में और इसके इतर अक्सर भारतीयों की दुर्दशा और पराधीनता से मुक्त न हो पाने के कारणों का जिक्र किया है। यदि हम मोटे तौर पर इनको रेखांकित करें तो कुछ कारण इस प्रकार उभर कर आयेंगे— ईश्वरी विधान में पूरी तरह आस्था न रखना, ब्रह्मचर्य का पालन न करना, गो सेवा की भावना का अभाव इत्यादि। उन्हें कभी भी ऐसा नहीं लगा कि वर्णव्यवस्था भारत की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार महत्वपूर्ण कारणों में से एक है। अपनी मृत्यु से कुछ समय पहले तक गांधी जी जन्माधारित वर्णव्यवस्था में विश्वास करते थे। इस संस्था

तद्भव

में उनकी आस्था इतनी गहरी थी कि अनेक सभाओं में वे भंगियों को अपनी जाति और जाति द्वारा निर्धारित काम न छोड़ने की सलाह देते नजर आते हैं।

यहां गांधी जी द्वारा रेखांकित भारत की पराधीनता के कारणों की पड़ताल करते हुए उस महत्वपूर्ण बिन्दु की तरफ ध्यान आकर्षित करना है जिस पर गांधी जी की दृष्टि स्वाभाविक रूप से नहीं पड़ी। कोई भी सनातनी हिन्दू (गांधी जी स्वयं को पारम्परिक अर्थों में सनातनी हिन्दू कहते थे) वर्णव्यवस्था की गलाजत को देख नहीं सकता या अगर उसका ध्यान जातिप्रथा से उत्पन्न सड़ांध की तरफ आकर्षित किया जाय तो वह उसके दुष्प्रभाव को हल्का करके आंकने का प्रयास करेगा। उदाहरणार्थ सनातनी हिन्दू यह समझाने की कोशिश करेगा कि वर्णव्यवस्था तो समाज को स्थिरता और सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए बनी थी अथवा वर्ण का निर्धारण जन्मना नहीं कर्मणा होता था। ये या इस तरह के दूसरे तर्क इस तथ्य को नजरअंदाज करने का प्रयास करते हैं कि दो हजार वर्षों से अधिक का भारतीय इतिहास दुनिया की सबसे गंदी संस्था वर्णव्यवस्था की जकड़बंदी में पिस रहे भारतीय समाज के पतन का इतिहास रहा है। यह कोई शून्य से उपजा तथ्य नहीं है कि जातियों में विभक्त भारतीय समाज ने विदेशी आक्रांताओं के विरुद्ध एक भी उल्लेखनीय युद्ध नहीं जीता। यह तर्क बहुत हास्यास्पद है कि हम तो एक शांतप्रिय समाज हैं, विश्वविजय में हमें कोई दिलचस्पी नहीं रही इसलिए हमने दूसरे मुल्कों पर हमला नहीं किया और इसलिए बर्बर, युद्धपिपासु जातियों से हम हारते रहे। सच तो यह है कि हम ऐतिहासिक रूप से हिंसक समाज रहे हैं। हमने जिन देवी देवताओं की कल्पना की है उन सभी के किसी न किसी हाथ में कोई न कोई हथियार है। एक राष्ट्र राज्य बनने के पहले सैकड़ों राजाओं के अधीन इस भू भाग का इतिहास निरंतर एक दूसरे से लड़ते भिड़ते रहने का इतिहास रहा है। पेंच इसमें यह है कि इस कदर युद्धप्रिय समाज कैसे अपने से कम संख्या वाली सेनाओं के सामने आसानी से घुटने टेक देता था। गांधी यदि अंग्रेजों के व्यापारी होने का तर्क देने के साथ इस पेंच को भी सुलझाने का प्रयास करते तो भारत की निरंतर हार के पीछे सबसे बड़े कारण के रूप में उस सामाजिक व्यवस्था को देखते जिसके अंतर्गत सैन्य शिक्षा प्राप्त करने या युद्ध करने का अधिकार जनसंख्या के एक बहुत छोटे तबके को प्राप्त था। सामंती अहंकार और जातिगत शौर्य के झूठे नशे में चूर यह योद्धा समुदाय देश के लिए एक भी युद्ध नहीं जीत पाया। यह जरूर हुआ कि एक दूसरे के राज्यों को हड़पने या सुंदर स्त्रियों के अपहरण जैसे मुद्दों पर आपस में जरूर मारकाट करता रहा। सही अर्थों में एक राष्ट्र के रूप में भारत ने उल्लेखनीय विजय 1971 में हासिल की जब उसने पाकिस्तान को हराया। पर यह तभी सम्भव हो पाया जब भारतीय सेना सिर्फ क्षत्रिय सेना नहीं थी, उसका बड़ा हिस्सा पिछड़ों और दलितों से निर्मित हुआ था।

मैंने ऊपर निवेदन किया है कि इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर कि भारत गुलाम इसलिए हुआ कि नब्बे प्रतिशत से अधिक नागरिकों को शस्त्र धारण करने से वंचित किया गया, गांधी जी का ध्यान न जाना एक सनातनी हिन्दू का सायास प्रयास था। वे गुलामी के कारणों में प्रमुख अंग्रेजों का व्यापारी होना और हमारा उनके व्यापारिक प्रयासों में मदद करना मानते थे। वर्णव्यवस्था को मानने वाला व्यक्ति ही यह भी सोचने का प्रयास नहीं करेगा कि कैसे एक विशाल समाज शासन की पूरी प्रक्रिया से निरंतर इतना निस्पृह हो गया था कि सही अर्थों में उसने *कोई नृप होय हमें का हानी* में विश्वास करना शुरू कर दिया था। यह स्वाभाविक है कि कोई समाज यदि अपनी जनसंख्या के विशाल हिस्से को जानवर से भी बदतर स्थिति में रखेगा तो उसके लिए इस बात में दिलचस्पी रखने का कोई कारण नहीं बचेगा कि उसका राजा कौन है। वह किसी ऐसे विदेशी शासक को बेहतर मानेगा जो ऐसी धर्म परम्परा से नहीं आता जिसमें असमानता की इतनी गहरी खाइयां हों जिनमें गिरा मनुष्य पशुवत् जीवन व्यतीत करने को विवश हो। यह सनातनी दृष्टि ही थी जिसके कारण गांधी का ध्यान अपने जन्म से थोड़ा पहले फुले द्वारा आयोजित उस कार्यक्रम पर नहीं जाता जिसमें 1857 के विद्रोह को कुचलने

तद्भव

में अंग्रेजों का साथ देने वाले महार सैनिकों का अभिनंदन किया गया था। गांधी की सनातनी दृष्टि वायसराय को लिखे पत्र का नोटिस भी नहीं लेती जिसमें वे इस बात पर खुशी जाहिर करते हैं कि यह अच्छा ही हुआ कि 1857 का विद्रोह असफल हो गया नहीं तो भारत के दलित एक बार फिर से सवर्णों के अधीन हो जाते और अंग्रेजों के राज्य में शिक्षा या रोजगार के क्षेत्रों में उन्हें जो अधिकार मिले हैं वे सभी छिन जाते। गांधी और आम्बेडकर के बीच मतभेद भी इसी सनातनी दृष्टि की उपज थी। गांधी लगातार इस बात पर जोर देते रहे कि आजादी की लड़ाई में हमें वर्णव्यवस्था की विसंगतियों को नहीं लाना चाहिए। आजादी मिलने पर भारतीय स्वयं इसका हल निकाल लेंगे। आम्बेडकर इससे सहमत नहीं थे। उनकी दृष्टि में राजनैतिक आजादी से अधिक महत्वपूर्ण सामाजिक आजादी थी। वे मानते थे कि यदि बिना सामाजिक आजादी हासिल किये राजनैतिक आजादी मिल गयी और अंग्रेज यहां से चले गये तो ऊंची जातियों के हिन्दू अछूतों से वे सारे अधिकार छिन लेंगे जो अंग्रेजी शासन के दौरान उन्हें मिले हैं।

गांधी, फुले और आम्बेडकर की दृष्टियों के इस फर्क को हमें हिन्द स्वराज पढ़ते समय ध्यान में रखना चाहिए। इससे हमें समझने में आसानी होगी कि क्यों भारत की गुलामी का इतना सरल उत्तर गांधी के पास था— *“हिन्दुस्तान अंग्रेजों ने लिया सो बात नहीं है, बल्कि हमने उन्हें दिया है... अंग्रेज व्यापारियों को हमने बढ़ावा दिया तभी हिन्दुस्तान में वे अपना पैर फैला सके।”*

पूरी सभ्यता और खासतौर से समकालीन भारतीय समाज की दुर्दशा का कारण गांधी जिनको मानते हैं उनमें तीन चीजें बड़ी प्रतीकात्मक हैं— रेल, वकील और डॉक्टर। इन तीनों से बचने की सलाह देते देते वे तीनों के नष्ट होने की कामना करते हैं। मूल पाठ के छप जाने के दशकों बाद जब उन्हें यह अहसास हो जाता है कि रेल, अस्पताल और अदालतें उनकी सदिच्छा के बावजूद फल फूल रहे हैं, वे यह स्वीकारते हैं— *“रेलों या अस्पतालों का नाश करने का ध्येय मेरे मन में नहीं है, अगरचे उनका कुदरती नाश हो तो मैं जरूर उसका स्वागत करूंगा... उसी तरह अदालतों के स्थाई नाश का ध्येय मन में नहीं रखता, हालांकि ऐसा नतीजा आये तो मुझे अवश्य बहुत अच्छा लगेगा।”*

रेल, डॉक्टर और वकील के खिलाफ गांधी के सारे तर्क एक गहरे धार्मिक मन की उपज हैं। धर्मों में आस्था सबसे अधिक महत्व की वस्तु होती है। विवेकजन्य तर्क का वहां कोई स्थान नहीं है। हिन्द स्वराज में रेल, वकील और डॉक्टर के विरुद्ध जो तर्क दिये गये हैं वे इसी भोली, निश्छल आस्था की उपज हैं। बिना विस्तार में गये मैं तीनों के विरुद्ध निर्मित अभियोगपत्र से सिर्फ एक एक उदाहरण देना चाहूंगा।

“रेलगाड़ी मनुष्य को तेजी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाती है इसलिए रेल से महामारी फैली है। अगर रेलगाड़ी न हो तो कुछ ही लोग एक जगह से दूसरी जगह जायेंगे और इस तरह संक्रामक रोग सारे देश में नहीं पहुंच जायेंगे।... रेल से अकाल बढ़े हैं क्योंकि रेलगाड़ी सुविधा के कारण लोग अपना अनाज बेच डालते हैं।... रेल से दुष्टता बढ़ती है। बुरे लोग अपनी बुराई तेजी से फैला सकते हैं।”

अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और मनुष्य के विकास की सभी तार्किक अवधारणाओं को नकारते हुए इस तरह के तर्क वही व्यक्ति दे सकता है जिसके मन में आस्था के ऐसे गहरे खूटे गड़े हों जिन्हें विवेक की कोई आंधी हिला न सके। मुझे यह तथ्य भी कारुणिक लगता है कि रेलों के इतने विरोधी गांधी ने अपने विचारों के प्रयास और भारतीय जनता से सीधा साक्षात्कार करने के लिए सबसे अधिक उपयोग रेलों का किया। उनकी तीसरी श्रेणी की यात्राएं तो भारतीय रेलवे के इतिहास में एक डोट्स की तरह हैं।

इसकी तुलना सिर्फ टॉलस्टॉय की मृत्यु से कर सकते हैं। पूरे जीवन रेलवे का विरोध करने वाले टॉलस्टॉय की मृत्यु एक रेलवे प्लेटफार्म की बेंच पर ही हुई थी। गांधी का रेलवे विरोध तर्कातीत कारणों से था, इसकी पुष्टि इस वाक्य से भी हो जाती है— *“उससे अकाल फैलेगा या नहीं, इस बारे में कोई शास्त्रकार मेरे मन में घड़ी भर शंका पैदा कर सकता है; लेकिन रेल से दुष्टता बढ़ती है, यह बात जो मेरे मन में जम गयी है वह मिटने वाली नहीं है।”*

रेलवे के विरुद्ध गांधी के तर्क किसी गम्भीर विमर्श की मांग नहीं करते। वकीलों और डॉक्टरों

तथा उनके पेशों पर गांधी की जो आपत्तियां हैं वे भी आस्थाजन्य धारणाओं की उपज ही ज्यादा हैं। वकील और अदालतों के बारे में गांधी का मानना है कि वे अंग्रेजी राज को बनाये रखने और मजबूत करने का औजार भर है। “ये अदालतें लोगों के भले के लिए नहीं हैं। जिन्हें अपनी सत्ता कायम रखनी है, वे अदालतों के जरिए लोगों को बस में रखते हैं। लोग अगर खुद अपने झगड़े निपटा लें, तो तीसरा आदमी उन पर सत्ता नहीं जमा सकता। सचमुच जब लोग खुद मारपीट करके या रिश्तेदारों को पंच बना कर अपना झगड़ा निबटा लेते थे तब वे बहादुर थे। अदालतें आर्यीं और वे कायर बन गये। लोग आपस में लड़ कर झगड़े मिटाएँ, यह जंगली माना जाता था। अब तीसरा आदमी झगड़ा मिटाता है, यह क्या कम जंगलीपन है?” गांधी भारतीय समाज के जिस युग को ध्यान में रख कर अंग्रेजों द्वारा थोपे गये कानूनों, अदालतों या वकीलों को कोसते हैं वह हमारे इतिहास का कौन सा स्वर्णयुग है यह समझ पाना थोड़ा मुश्किल है। भारतीय समाज में धर्म और राज्यसत्ता के संस्थाबद्ध होने के बाद किसी ऐसे समय को तलाशना जिसमें कानून की नजरों में सभी नागरिक समान हो, लगभग सम्भव है। वर्णाश्रम सिर्फ श्रम का विभाजन नहीं करता बल्कि एक ऐसी स्तरीकृत सामाजिक व्यवस्था को जन्म देता है जिसमें जनसंख्या का बड़ा हिस्सा पशुवत् जीवन व्यतीत करता है। वर्णाश्रमी विधानों में विधि के समक्ष समानता पूरी तरह असम्भव है। अंग्रेजों द्वारा लागू कानून और उसे स्थापित करने वाली संस्थाएं किसी भी मकसद से हमारे देश पर थोपी गयी हों परंतु एक बात तो निश्चित है कि इनकी निर्मिति पश्चिम में चर्च और राज्य के बीच चलने वाले लम्बे संघर्षों से हुई थी और इन्हीं संघर्षों की परिणिति से कानून के समक्ष समानता का सिद्धांत विकसित हुआ था और विधि का वही स्वरूप अंग्रेज हमारे समाज में लाये। पहली बार देश में ऐसे फौजदारी कानून लागू हुए जिनमें वर्ण, वर्ग या लिंग के फर्क को मिटाते हुए समान अपराध के लिए समान दंड की व्यवस्था लागू हुई। जिन ग्राम पंचायतों में गांधी की आस्था है वे वर्णाश्रमी कानूनों को संस्थाबद्ध मान्यता प्रदान करने का सबसे बड़ा माध्यम थीं। गांधी अपने जिस गौरवशाली अतीत के सपनों में खोये ऐसे किसी समय की कल्पना करते हैं, जिसमें गांव के लोग बैठ कर अपने झगड़े निपटा लेते हैं। वह यूटोपिया से अधिक कुछ नहीं है। पंचायतों में निर्णय वर्णाश्रमी कानूनों के अधीन थे और वर्णाश्रमी कानूनों में सबकुछ हो सकता था समानता की अवधारणा नहीं। आज भी देश के कुछ हिस्सों में पंचायती कानून चलते हैं। हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश की ये पंचायतें न्याय के लिए कम अपने तुगलकी फरमानों के लिए अधिक जानी जाती हैं। जातियों की रूढ़ियों में फंसे इनके फैसले अमानवीय, अतार्किक और समानता विरोधी होते हैं।

डॉक्टरों या आधुनिक चिकित्सा पद्धति के सारे विरोध की जड़ कहीं न कहीं धर्मप्राण गांधी की इस चिन्ता में है— “डॉक्टर हमें धर्मभ्रष्ट करते हैं। उनकी बहुत सी दवाओं में चरबी या दारू होती है। इन दोनों में से एक भी चीज हिन्दू मुसलमान को चल सके ऐसी नहीं है। हम सभ्य होने का ढोंग करके, दूसरों को वहमी मान कर और बेलगाम होकर चाहे सो करते रहें; यह दूसरी बात है लेकिन डॉक्टर हमें धर्म से भ्रष्ट करते हैं, यह साफ और सीधी बात है... इसका परिणाम यह आता है कि हम निःसत्व और नामर्द बनते हैं। ऐसी दशा में हम लोकसेवा करने लायक नहीं रहते और शरीर से क्षीण और बुद्धिहीन होते जा रहे हैं।” गांधी का रेल, वकील और डॉक्टर विरोध कहीं एक सनातनी हिन्दू मन की आशंका तो नहीं है जो इन्हें वर्णाश्रम के विरुद्ध सबसे बड़े खतरे के रूप में देख रहा है? मेरे मन में यह शंका हिन्द स्वराज को पढ़ते हुए बार बार उठती है। यह शंका इसलिए और गाढ़ी हो जाती है कि जितना मैं गांधी को पढ़ता हूं मुझे उनमें एक सनातनी हिन्दू का बिम्ब उतना ही साफ दिखता है। एक सनातनी के लिए वर्णव्यवस्था के बिना हिन्दू धर्म की कल्पना असम्भव है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि गांधी उन सभी संस्थाओं का विरोध करते हैं जो सनातन धर्म की जड़ वर्णव्यवस्था पर आघात करते हैं। सौ वर्ष बाद जब हम हिन्द स्वराज की चर्चा करें तो हमें इस तथ्य को भी ध्यान में रखना चाहिए।